International Journal of Education and Science Research Review
Volume-2, Issue-3 June- 2015
www.ijesrr.org
E-ISSN 2348-6457
P-ISSN 2348-1817
Email- editor@ijesrr.org

सोनागिरि के गुम्बद : वास्तुकला के सन्दर्भ में

निधि सिंह
शोधार्थी
बैकुण्ठी देवी महिला डिग्री कॉलिज
आगरा

डॉ0 नीलम शर्मा
निदेर्शिका
बैकुण्ठी देवी महिला डिग्री कॉलिज
आगरा

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

“भवन–निर्माण वं शिल्प–विज्ञान का नाम वास्तु–कला है।” उसका विकास मानव–सभ्यता के विकास के साथ हुआ, ऐसी कल्पना स्वभावतः की जा सकती है। संसार के प्राणिमात्र में आत्मरक्षा और सुख–साधन का भाव नैसर्गिक रूप में पाया जाता है। हम देखते हैं कि पक्षी घोंसले बनाते हैं, चूहे आदि बिल खोद लेते हैं और दीमक भोटे बनाती है। इस प्रकार बुद्धि–शूल्य कहे जाने वाले जीव–जन्तुओं, पशु–पक्षियों में भी आत्मरक्षा के लिए सुन्दर कलायपूर्ण निवास बनाने की भावना पायी जाती है, तो यह कल्पना स्वाभाविक है कि मानव में यह भावना, यह आकांक्षा और भी तीव्र रही होगी। उसने अपने जन्म के साथ ही सर्दी, गर्मी, बरसात, धूप आदि अनेक प्रकार की प्राकृतिक अनसुविधाओं से अपनी रक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया होगा और उसी दिन वास्तु–कला का जन्म हुआ होगा।

मनुष्य का आरम्भिक जीवन अस्थिर था। वह एक स्थान से दूसरे स्थान घूमता, शिकार करता, गाय चराता और विचरण करता रहा। ऐसी अवस्था में उसने अपने चारों ओर रहने वाले पक्षियों की देखा–देखी अपने लिए घास–फूल की अस्थायी झोपड़ियाँ बनायी होंगी, पश्चात् धीरे–धीरे उसने स्थायी एवं सुदृढ़ निवास बनाने की ओर ध्यान दिया होगा। सम्भव है कि मनुष्य ने अपने निवास में पशुओं का भी अनुकरण किया हो और अपने रहने के लिए भूमि में माँद बनाये हों और पर्वतों की गुफाओं और कन्दराओं की शरण ली हो। यह बातें उस काल की हैं जिसे मानव–सभ्यता का आदिकाल कहा जा सकता है। यह अवस्था सम्भवतः आज से दस–बारह हजार वर्ष पूर्व तक रही होगी।

उसके बाद निवास ने सुदृढ़ रूप लिया और धीरे–धीरे सामूहिक निवास का रूप धारण करते–करते वह नगर के रूप में परिवर्तित हुआ। सभ्यता के विकास के साथ–साथ नगर की आवश्यकता और उपयोगिता के विस्तार ने सुचारु निर्माण की भावना को उद्दीप्त किया और मनुष्य ने उसे वैज्ञानिक रूप दिया; पश्चात् उसने अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए अनेक प्रकार के स्वतन्त्र भवनों का निर्माण किया और उनकी वास्तु–कला ने स्वतन्त्र रूप धारण किया। संक्षेप में वास्तुकला का क्रय–विकास यही है जिसे विश्व के इतिहास के साथ सम्बद्ध कर सकते हैं।

आज की विकसित वास्तु–कला में स्थायित्व के साथ–साथ कलात्मक भावना प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। उसमें उपयोगिता के साथ–साथ सौन्दर्य की आवश्यकता का भी अनुभव किया जाता है। आज की वास्तु–कला का महत्व संयोजन (प्लान) के सजाने और उसे इस रूप में प्राण देने में समझा जाता है कि भवन में सौन्दर्य, एकरूपता और स्थायित्व का इस प्रकार सम्मिश्रण हो कि मनुष्य के सुख में बाधा न पड़े।

वास्तुकला के इस विकास–क्रम का अध्ययन करने और समझने के लिए मानवीय भावनाओं का अध्ययन आवश्यक है। इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि किसी वास्तु के निर्माता के मस्तिष्क में उस समय क्या भावनायें काम कर रही थीं जब उसने उस वास्तु के निर्माण की कल्पना की। साधारणतया जब कोई शिल्पी किसी भवन के निर्माण का उपक्रम करता है तो उसका प्रयत्न होता है कि वह उस भवन के प्रयोजन को ध्यान में रखकर उसके निमित्त उपलब्ध भूमि की सीमा के भीतर ही उस वास्तु का ऐसा संयोजन करे कि उसकी सारी आवश्यकताएँ सुविधापूर्वक पूरी हो जायें। किन्तु अपने इस प्रयत्न के साथ–साथ वह यह भी देखने की चेष्टा करता है कि उसी प्रकार के वास्तु–निर्माण में पहले के वास्तु–निर्माता ने किस प्रकार का संयोजन किया है, फिर वह अपने साधनों के अनुरूप अपनी तात्कालिक आवश्यकता की दृष्टि से उसमें समुचित काट–छाँट, संशोधन–परिवर्तन कर अपनी कल्पना को मूर्त करता है। फलतः उस नव–निर्मित वास्तु पर अपनी सारी मौलिकताओं के बावजूद उस पूर्ववर्ती वास्तु की छाप किसी न किसी रूप में उतर आती है। वास्तु–शैली के विकास पर विचार करते समय बहुधा हम इस बात की उपेक्षा कर जाते है और विभिन्न वास्तु–शैलियों के विकास के बीच काल की सन्धि–रेखा खींचने की चेष्टा करते हैं। किन्हीं दो शैलियों में स्पष्ट अन्तर होते हुए भी मूलतः वे एक दृष्टि से सर्वथा भिन्न होंगें ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। शताब्दियों में शिल्पियों की कल्पनाओं के रूप विकसित होते–होते

मूल रूप से परिवर्तित होकर एक नया रूप धारण करते हैं। इस प्रकार इन सबके बीच क्रम की एक श्रृंखला बनी रहती है जिसे तोड़कर विभिन्न शैलियों को एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। वास्तुकला के तीन मूल तत्वों–संयोजन (प्लान), निर्माण (कॉन्स्ट्रक्शन) और रूप (फॉर्म) में से किसी न किसी में वह अभिन्नता बनी होती है। उसकी किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी वास्तु के क्रम–विकास का अध्ययन करते समय उसके प्राचीन रूप से आरम्भ कर उसके सामने रखकर ही किसी वास्तु का उचित अध्ययन किया जा सकता है।

मध्यकाल में किसी एक स्थान एवं राज्य से जुड़े चित्रकार का रूप संयोजन वहाँ के स्थानीय प्रभाव से अवश्य प्रभावित रहता था। वास्तव में एक लम्बे समय तक चलने वाली इस संयोजन की प्रक्रिया को ही शैली कहा जाता है। भारतीय चित्रकला के इतिहास में शैली का एक विशिष्ट स्थान है। चित्रतल पर रूप का सृजन, रूप चयन, रूप आयोजन तथा अर्थ निरूपण की विधि आदि संयुक्त रूप शैली का निर्माण करते हैं। हरबर्ट रीड के अनुसार एक कलाकार निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हेतु अपने पास उपलब्ध तकनीकी एवं चित्र सामग्री से सौन्दर्यपूर्ण संयोजन करता है, इसी को शैली कहते हैं। कागदीय सचित्र कल्पसूत्र प्रतियों की चित्रण शैली को डॉ0 मोतीचन्द्र, अजित घोष एवं सारा भाई नवाब ने पश्चिमी भारतीय शैली या जैन शैली कहा है। शैली शब्द उन उपायों को इंगित करता है जो कि रेखा एवं रंग में चित्र के आकारों की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त होते हैं। मानव मन में प्रस्फुटित भावों को कृति रूप में संयोजित करने हेतु सौन्दर्य सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न आयामों का आश्रय लेना होता है अतः दृष्टिगत कलाओं के लिये मुख्य रूप में कुछ ऐसे तत्वों की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा उस रूप या छवि को देखा और समझा जा सके। स्थान एवं काल के अनुसार संयोजन के ढंग में परिवर्तन होता रहता है। इसी कारण नई कला शैलियाँ जन्म लेती है। पूर्व उल्लेखित वात्स्यायन कृत कामसूत्र की जयमंगला नामक का चित्र के छः अंगों वाला श्लोक प्राप्त होता है–

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव लावण्ययोजनम्।
सादृष्य वर्णिका भंगः इति चित्र षडकम्।।

तत्वगत अध्ययन

आलेखन के मूल तत्व रेखा, रूप, वर्ण, तान एवं अन्तराल को आधार मानते हुए राष्ट्रीय संग्रहालय में संग्रहित 15वीं से 18वीं शताब्दी के सचित्र प्रस्तुत कल्पसूत्र चित्रों का अध्ययन अग्र प्रकार से हैः–

रेखा दो बिन्दुओं या सीमाओं के बीच की दूरी है, जो बहुत सूक्ष्म होती है और गति का प्रदर्शन करती है। रेखा चित्रमण संकेत लिपि है जो नेत्र को चित्रतल पर दिशा देती है। ताड़पत्रीय कल्पसूत्र चित्रों की रेखाओं में प्रवाह व सुकुमारता के स्थान पर जकड़न के भाव दिखायी देते हैं। इनमें मुख्यतः सीधी, पड़ी, कर्णवत्, एक पुंजीय, चक्राकार, कोणीय रेखाओं का प्रयोग हुआ है। लेकिन कागदीय सचित्र कल्पसूत्रों के चित्रों में अपेक्षाकृत कम जकड़न दिखाई देती है। वास्तव में चित्रकार चित्रतल पर जिस किसी भी रूप का निर्माण करता है, वह रेखाओं के द्वारा ही सम्भव हो पाता है। दर्शक किसी प्रकार की आकृति इत्यादि को रेखाओं की सहायता से खोजने का प्रयास करता है। इस प्रकार इसे संकेत लिपि के रूप में भी अभिहित किया जाता रहा है। विभिन्न समयावधि में रेखा का प्रकार या स्वरूप भी परिवर्तित होता रहा है।

रेखाओं के संयोजन को ही रूप कहा जाता है। यह वह क्षेत्र हैं जिसका अपना निश्चित वर्ग एवं आकार होता है। इस प्रकार के रूप का अर्थ आकृति से ही लिया जाता है। इसमें चाहे मानवीय अंकन हो, पशु–पक्षी या वृक्ष एवं कोई प्राकृतिक उपादान हो। रेखा आदि रूपात्मक तथ्यों के गठन एवं सौन्दर्य परख क्षमता से युक्त अभिव्यक्ति पर प्रभावी स्वरूप को रूप कहा जाता है। जिस प्रकार किसी नाटक के मूल पात्र और सहयोगी पात्र होते हैं उसी प्रकार रूप के अन्तर्गत भी प्रमुख एवं सहयोगी रूप होते हैं। प्रमुख रूप को प्रत्यक्ष एवं सहयोगी रूपों को अप्रत्यक्ष रूप में जाना जाता है।कला का माध्यम कुछ भी हो, वह भावों को मूर्त रूप देती है। मूर्त रूप ही आकृति है। इससे अनुप्राणित होकर सदा से ही कलाकारों ने भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिये आकृति को अपना माध्यम स्वीकार किया है भारतीय शिल्प शास्त्रों में आकृति विज्ञान (प्रतिमा विज्ञान) पर बहुत विस्तार से अध्ययन किया गया है। किसी चित्र में रेखा, रंग व अन्य तत्वों का सुन्दर संयोजन किया जाये किन्तु चित्र में यदि आकृति का समुचित अंकन नहीं है तब चित्र का आकर्षण न्यूनतम हो जाता है। यह सत्य है कि आकृति रेखा व रंग के सहयोग से बनती है किन्तु आकृति के संयोजन के लिय उद्देश्यात्मक गठन में नियोजित करना पड़ता है।

रूपाकृति के शारीरिक गठन के दृष्टिकोण से संग्रहालय में संग्रहित 15वीं से 18वीं शताब्दी तक प्रस्तुत कल्पसूत्र चित्र के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन चित्रों में अंकित अनेक रूपों में मानव आकृति, पशु–पक्षी, वृक्ष आदि के साथ स्थापत्य रूपों का भी अंकन किया गया है। इन ग्रंथ चित्रों का रूप विधान जैन चित्रशैली का ही रहा है। मानवीय आकृतियों के चित्रण में सवाचश्म मुखाकृति में तीक्ष्ण नासिका का चेहरे से बाहर निकला हुआ स्वरूप प्रस्तुत चित्रों का सौन्दर्य है।

मध्यभारत का प्रधान पर्वत विन्ध्याचल है। जैन शास्त्रों में जिस विजयार्थ पर्वत का वर्णन है, कतिपय विद्वान उसकी कल्पना विन्ध्याचल से करते हैं। विन्ध्याचल, बिहार से प्रारम्भ होकर गुजरात तक लगभग 700 मील लम्बा है। इस विन्ध्याचल की पर्वत मालायें भेलसा, चंदेरी, कोलारस, ग्वालियर, गुना, सरदारपुर, नीमच, आगरा तथा शाजापुर तक फैली हुई हैं। इस विन्ध्याचल की श्रृंखला में ही वर्तमान दतिया में गोपगिरि एक शाखा है, जिसमें ग्रेनाइट पत्थर की चट्टानों के ऊपर श्रमणगिरि पर्वत शिखा है। इसी श्रमणगिरि पर्वत के अंचल में बसा श्रमणांचल आज सिंनावल ग्राम है। भूगर्भ शास्त्रियों एवं पुराविद्ों के अनुसार सोनागिरि एवं दतिया क्षेत्र का उद्भव लगभग ढाई अरब वर्ष पूर्व पुराजीवी महाकल्प काल में हुआ था। यह काल सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है।

सोनागिरि सोने से भी बहुमूल्य चिंतामणि है। यहाँ का वायुमण्डल आज भी पवित्रता लिए हुए है। इस पर्वत की यह अपनी विशेषता है कि यह अपने पर स्थित वन के सुगंधित वृक्षों से सदा महकता रहता है। अनेक उपयोगी वनौषधियाँ इस पर्वत पर होती हैं, जैसे–आम, इमली, नीम, शंखपुष्पी, असगंध, गोखरू, पुनर्नवा, रत्ती (गुंची) आदि। इस तीर्थ स्थल की पावन धरती से जो सुवासित गंध, चैतन्य अनुभूति हृदय को उद्वेलित करती है, उसे पाकर व्यक्ति पर आध्यात्म की अदृश्य धुन्ध, मन, बुद्धि एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर छा जाती है और वह अपने को धन्य समझता है। सोनागिर सिद्ध क्षेत्र में मन्दिर निर्माण की विविध शैलियों के भी दर्शन होते हैं, जैसे–अष्ट पंखड़ियों से युक्त पूर्ण मुकुलित कमल तीन प्रदक्षिणाओं सहित मेरू व कलात्मक समवशरण मन्दिर, गगनचुम्बी मानस्तम्भ एवं गोलाकार तीन कटनियों से सुसज्जित पिसनहारी मन्दिर तथा मन्दिर के आन्तरिक एवं बाह्य भाग में स्थित प्रदक्षिणा पथ उन्नतशिखर, आहत विशाल गुम्बद सभी कुछ कला के अप्रतिम एवं अद्भुत नमूने हैं। इस प्रकार खनिज वनौषधियाँ, धन–धान्य आदि सम्पदा से भरपूर तथा श्रद्धा एवं भक्ति से रसपरिपूर्ण यह क्षेत्र वास्तविक रूप में ही स्वर्णांचल रहा है।

सिद्धक्षेत्र सोनागिर (स्वर्णगिरि) एक अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक तीर्थ है। चतुर्थकाल में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जी के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत दिग्विजय के समय यहाँ पधारे थे और उन्होंने यहाँ जैन मन्दिर भी बनवायें थे। जिनकी वंदना दूसरे सम्राट सगर चक्रवर्ती ने की थी, जिनको आज के इतिहासकार प्राचीन भारत का एक महान राजा स्वीकार करते हैं।

सोनागिर की अतिशय प्रसिद्धि से प्रभावित होकर चन्द्रप्रभु स्वामी के समय में होने वाले महामुनि सोमसेन, मुनि सागरदत्त, चारणमुनि आदिगत व प्रभागत, महाराजा चिंतागति, काकुन्दी के सम्राट मानसेन तथा अंग, बंग तिलंग, महाराष्ट्र, काश्मीर, मालवा, गोड, लाट, पाट, हमीर, विनीत, कर्नाटक, द्राविड, पांचाल तथा गुर्जर आदि 32 हजार देशों के राजाओं के साथ 32 करोड़ हाथी, 32 करोड़ घोड़े, 2 अरब पैदल सैनिक आदि के साथ उज्जैन के सम्राट श्री दत्त ने यहाँ की यात्रा की थी। बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ जी के शासनकाल में वनवास के समय श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी ने सोनागिर की वंदना की। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय में पाँचों पाण्डवों आदि ने यहाँ की वंदना की। पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय में महाराजा करकुण्ड विशाल संघ सहित स्वर्णगिरि की वंदना को आया था। इसी तरह तीर्थंकर महावीर के शासनकाल में स्वर्णगिरि का राजा समरसिंह था, यह जैनाचार्य अजितदेव सूरि का परम भक्त था।

स्वर्णगिरि की महिमा और अतिशयों से प्रभावित होकर मौर्यकाल में सम्राट अशोक ने यहाँ की यात्रा की और यहाँ के विशाल कलापूर्ण मंदिर देखकर उनकी देखभाल के लिए एक उपशासक कुमारपाल की नियुक्ति की और सोनागिर के निकट गुर्जरा नामक स्थान पर अपना लेख लिखवाया जो आज भी वहाँ मौजूद है। इस पावन क्षेत्र सोनागिर पर इस युग के महान संतों ने संघ सहित वंदना की जैसे–आचार्य विद्यासागर, आचार्य विराग सागर, आचार्य विमल सागर, आचार्य सुमति सागर, आचार्य सन्मतिसागर, आचार्य भरत सागर, उपाध्याय ज्ञान सागर आदि महान मुनिश्वरों ने समय–समय पर चातुमांस भी किए और अनेकानेक मुनियों ने इसे दीक्षा क्षेत्र भी बनाया है।

श्रद्धा की दृष्टि से सोनागिर को तीर्थों का हृदय स्थल कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। जैन धर्म की प्रमुख शाखा दिगम्बर परंपरा की यह पुण्य स्थली है। यह जैन धर्म के अतिशय और सिद्ध क्षेत्रों में एक है। पूर्णिमा की चाँदनी से नहाता सोनागिर तीर्थ मानव मात्र को पवित्रता और शीतलता का संदेश प्रदान करता है। निश्चित रूप से आज हम जिस रूप में सोनागिर को निहार रहे हैं इसका अतीत इससे कहीं अधिक वैभवशाली रहा होगा। समय की मार तो सब पर प्रभावी होती है। अब तक कई दफा यहाँ नींव में ईंटें लगीं होगीं, शिखर पर ध्वजाएँ और गिरि पर अनगिनत दीप प्रज्ज्वलित हुए होंगें। कल्पना की जा सकती है कि सोनागिर कितना वैभवशाली तीर्थ क्षेत्र है। चतुर्थ काल से ही पूजित इस भूमि पर जिस धर्म गंगा का अवतरण हुआ उसकी अविरल धारा वर्तमान में भी प्रवाहित हो रही है।

सोनागिरि में वास्तुकला, मूर्तिकला एवं अलंकारिकता का द्वितीय अध्याय में अध्ययन करने के उपरान्त तृतीय अध्याय में मात्र वास्तुकला के विषय में ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया गया हैं जैसा कि पूर्व में चर्चा की गई है कि जैन स्थापत्य कला में गुप्ताकालीन झलक दिखाई देती है। किन्तु कुछ में कुषाण कालीन छाया भी दृष्टिगोचर है। मन्दिरों की

मीनारें एवं गुम्बद दो प्रकार की हैं–गोलाकार एवं त्रिकोणाकार (चित्र 1)। मन्दिर क्रमांक 59 गोलाकार गुम्बद के आकार का है। (चित्र 1) मन्दिर क्रमांक 60 एक मेरूरचना के रूप में है तथा पिसनहारी या चक्की वाला मन्दिर नाम से विख्यात है (चित्र 2)। यह मन्दिर तीन कटनी वाली पाण्डुक शिला–जैसी आकृति का बना हुआ है, इस मन्दिर में भगवान सुपार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति विद्यमान है (चित्र 2)। पहाड़ी पर विद्यमान मन्दिरों की छटा एक गांव का आभास देती है (चित्र 3)। मन्दिर परिसर में ही एक ओर चौबीस तीर्थंकरों छतरियाँ बनी हैं जिनमें तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इन सभी की गुम्बद गोलाकार हैं। पिसनहारी मन्दिर के पार्श्व में ही स्थित मन्दिर की गुम्बद गोलाकार बनी है और उस पर सम्पूर्ण में कमल की पंखुड़ी बनाई गई है, इसके चारों कोनों पर चार अलग–अलग स्तम्भ पर गोलाकार छोटे आकार में गुम्बद है (चित्र 4) एक अन्य मन्दिर की गुम्बद गोलाकार है किन्तु उसके ऊपर नारियल सहित कलश स्थापित है तथा उसके ऊपर विकसित कमल को दर्शाया गया है साथ ही एक गोले में स्वास्तिक चिन्ह भी अंकित किया है (चित्र 5)। इसी प्रकार पार्श्वनाथ भगवान के ऊपर बनाई गई छतरी की गुम्बद भी विकसित कमल के रूप में है तथा वह उल्टे रूप को प्रदर्शित करती है। त्रिकोणाकार गुम्बद भी दो प्रकार से निर्मित की गई हैं–एक पर बारीकी से अनेक रेखाओं से मन्दिर की आकृति प्रदर्शित है जो गुम्बद को शंक्वाकार रूप प्रदान करती है (चित्र 6) यह तीन मन्दिरों की एक साथ निर्मित गुम्बद है इसी के पास ही छोटे आकार में अनेक उसी प्रकार की गुम्बदाकृति बनाई गई हैं। इसके अन्य मन्दिर की गुम्बद त्रिकोणाकार की है। जिस पर एक जंजीर में घंटें की आकृति उत्कीर्ण की गई है। इसके ऊपर छोटा गोलाकार गुम्बद बनाया गया है (चित्र 7) एक अन्य मन्दिर की गुम्बद शंक्वाकार है तथा उसके चारों ओर स्तम्भ पर गोलाकार गुम्बद बनाए गए हैं (चित्र 8)। चरण पादुकाओं के ऊपर बनाए गए मन्दिर की गुम्बद त्रिकोणाकार है। यह चरण पादुकाएँ 24 तीर्थंकरों की हैं। इन गुम्बदों पर किसी भी प्रकार कोई रेखांकन, अलंकरण, चित्रांकन कुछ भी नहीं है। पूर्णतः साधारण आकार में बनी यह गुम्बद जैन धर्म की सादगी, राग्भ का परिचायक है (चित्र 9)। ऐसा नहीं कि सोनागिरि की पहाड़ी पर स्थित प्रत्येक जैन मन्दिर की गुम्बद ही दर्शनीय है नहीं उन्हीं मन्दिरों में अन्दर भी गुम्बद बनायी गई हैं। अन्दर बनाई गई गुम्बदों पर अनेक रंगों से चित्रकारी भी की गई है (चित्र 10 ए, बी) तथा कुछ को एक या दो रंगों से ही रंगा गया है (चित्र 11)।

यहाँ के मन्दिर का गुम्बद कुछ लम्बाई लिए हुए है। जिस पर सबसे ऊपर पाँच गोलाकृति बनाकर उस पर कमल पुष्प को बनाया गया है जिसकी सभी पंखुड़ियाँ लिखे पुष्प को दर्शाती हैं। यह गुम्बद चार भागों में विभाजित किया है तथा प्रत्येक में सबसे ऊपर जैन धर्म परिचायक चिन्ह मध्य में कमल पश्चात् शंख पुनः धर्म प्रचारक चिन्ह इसी क्रम में उकेरे गए हैं। सभी में स्वास्तिक एवं हाथ की आकृति स्पष्ट अंकित है।

एक अन्य मन्दिर का गुम्बद गोलाकार में प्रदर्शित है। सोनागिरि के मन्दिरों में गुम्बद दो प्रकार के लम्बे आकार तथा गोलाकार में बनाये गए हैं। गोलाकार गुम्बद अष्टकोण बनाकर प्रदर्शित हैं। यह अष्ट कमल भी एक चौकोर चबूतरे पर बनाया गया है। जिस पर खिली हुई पुष्प पंखुड़ी उकेरी गई है। इसी प्रकार की पाँच–पाँच पंखुड़ियों का विभाजन सम्पूर्ण गुम्बद की गोलाकृति में किया गया है।

मन्दिर परिसर में ही एक चबूतरे पर 12 गुम्बद निर्मित किये गए हैं। यह गुम्बद दोनों ही आकार में स्थापित हैं। यह छोटे–छोटे गुम्बद गोलाकार में स्तम्भ बनाकर उस पर बनाये गए हैं। ऐसे सात गुम्बदों के मध्य एक गुम्बद बड़ा तथा लम्बाकृति में निर्मित है। सभी के ऊपर पीतल पत्र से सज्जित कलश स्थापित किये गए हैं।

मन्दिर के बाह्य दीवारों पर तथा खिड़की के चारों ओर भी खिड़की का आधार आदि सभी में एक अनूठी चित्रकारी कला के चितेरों के लिए आनन्ददायी है। इस सम्पूर्ण चित्रकारी को हल्के भूरे रंग के पत्थर पर सजाया है। जहाँ पर खिड़की है वहाँ उसका आधार खिला हुआ कमल का पुष्प, उसके नीचे सोलह खिली हुई पंखुड़ियों को दर्शाते हुए दो पुष्प जोकि गोलाकृति में हैं तथा मध्य में आधा खिला पंखुड़ी के साथ पुष्प भी गोलाकृति में ही बनाया गया है। अन्य चित्र के मध्य विभाजन के लिए चार स्वास्तिक चिन्ह सम्पूर्ण एवं समृद्धि का सूचक बताते हुए दर्शाए गए हैं।

सोनागिरि में जहाँ मन्दिरों का निर्माण है वहीं पर पहाड़ी के एक ओर मन्दिरों के प्रांगण में असंख्य छोटे–छोटे मन्दिरों का निर्माण किया गया है तथा सबसे ऊपर उसी प्रकार का एक मन्दिर निर्मित किया गया है। ये सभी मन्दिर भी श्वेत पाषाण से ही निर्मित हैं। साथ ही मुख्य मन्दिर जो इन मन्दिरों के मध्य निर्मित है तक पहुँचने के लिए लगभग छः सीढ़ियाँ ऊपर हैं।द्वार के अन्दर बने मन्दिर का गुम्बद एवं उसकी स्थापत्य कला का जीती–जागती प्रतिकृति यह गुम्बद कमल को प्रदर्शित कर रहा है। गुम्बद की चोटी खिले हुए कमल के रूप में अंकित है।

मुख्य मन्दिर का गुम्बद अत्यन्त ही भवन निर्मित किया गया है तथा उससे बिल्कुल मिलाकर चारों कोनों पर चार छोटे गुम्बद स्तम्भ के ऊपर निर्मित हैं। प्रवेश द्वार पर भी तीन गुम्बद मध्य में बड़ा किन्तु मुख्य मन्दिर से छोटा गुम्बद स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त मन्दिर के प्रागंण को भी स्तम्भ तथा उसके ऊपर गुम्बद से छेरा गया है। स्तम्भ पर भगवान

महावीर के विभिन्न रूपों का रेखांकन किया गया है। मध्य भाग के स्तम्भ पर आठ भागों में लम्बवत् से सृष्टि का प्रारम्भ अर्थात् रचना, पोषण तथा संहार को रेखांकित किया गया है। इसकी स्थापत्य कला एवं कलात्मकता अलग ही संदेश देती प्रतीत होती है।

एक अन्य मन्दिर का गुम्बद है जोकि शीशे के काम से सुसज्जित है। इसे चार दीवारों के रूप में बाँटा गया है तथा मध्य भाग भी चोकोर ही दर्शित हैं। इसकी एक दीवार पर मध्य में श्री को द्वितीय में ॐ तथा तीसरे में स्वास्तिक तथा चतुर्थ में पुष्प अंकित है। यह सभी चिन्ह तथा इसके चारों ओर की सजावट मन्दिर के बाह्य भित्ति पर नीचे तथा स्तम्भ के बाह्य आकार पर प्रवेश द्वार के बाह्य दीवार पर दोनों ओर यक्ष चंवर हिलाते हुए गुलाबी पत्थर से उकेरे गए हैं। उन्हीं के साथ हाथी राजसी वस्त्र धारण किये हुए, तथा अन्य चित्र पर हाथी उकेरा गया है।

रामजीत जैन एडवोकेट : सोनागिरि वैभव
के0 सी0 जैन : सोनागिरि दिग्दर्शन
बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ भाग (1)
: उत्तर भारत के जैन मूर्ति अवशेषों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण
: वास्तु स्मारक एवं मूर्तिकला 300 से 600 ई0
बाजपेयी, मधुलिका : मध्य प्रदेश की जैन कला, दिल्ली 1993
जैन, जे0 सी0 : भारत के प्राचीन जैन तीर्थ

IJESRR